ISSN: 2584-0231(Online)
International Journal of Multidisciplinary Research in Arts, Science and Technology
© IJMRAST | Vol. 3 | Issue 12 | December 2025
Available online at: https://ijmrast.com
DOI: https://doi.org/10.61778/ijmrast.v3i12.215

संत कबीर के सामाजिक एवं सांस्कृतिक विचारों का भारतीय समाज पर प्रभाव

डॉ० राजेश कुमार

एसोसिएट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, सेटेलाइट केन्द्र, अमेठी

Email id: rajesh.baudh75@gmail.com

सारांश

संस्कृति मानव–जाति के अनवरत आत्म–सृजन की प्रक्रिया है। अपनी सृजनात्मकता का निरन्तर उत्कर्ष ही 'मानवीय आत्मसिद्धि' है और उसके मार्ग में उत्पन्न अनेक 'निवारणीय अवरोधों' को दूर करना वैयक्तिक ही नहीं, सांस्थानिक अर्थात् सामजिक–आर्थिक–राजनीतिक संस्थानों का लक्ष्य और आचरण होना चाहिए। केवल तभी वे अपने को वास्तविक अर्थों में नैतिक या अहिंसक हो सकते हैं। जीवन मात्र के, अस्तित्व के प्रति लगाव, प्रेम, करुणा, अनुकम्पा का भाव और उनका सूक्ष्मतर बोध अहिंसा के भाव की ही गुणाभिव्यक्तियाँ हैं। कबीर साहेब प्रत्येक संकीर्ण सम्प्रदायिक भावना से मुक्त थे और उनका मुख्य अभिप्राय किसी ऐसी विचारधारा को जन्म देना था जो स्वभावतः सर्वमान्य बन सके और जिसमें इसी कारण किसी भी उल्लेखनीय प्रवृति के संचार की पूरी गुंजाइश हो सके। तदनुसार उन्होंने सामने उपस्थित समस्या पर अधिक से अधिक व्यापक दृष्टिकोण के साथ विचार करने का प्रयत्न किया और इस प्रकार निकाले गए परिणामों के मूल्यांकन का भार प्रत्येक व्यक्ति के निजी अनुभव पर ही छोड़ दिया। इसीलिए कबीर साहब की उस ऊँचाई से देखने पर जहाँ निर्गुण एवं सगुण के प्रश्न आपसे आप हल हो गए।

शब्द कुंजी– सृजन आत्मसिद्धि, निवारणीय, अहिंसक, निर्गुण, संकीर्ण सूक्ष्मतर

प्रस्तावना–

जीवन की सृजनात्मक प्रक्रिया में एक सक्रिय भागीदार होने के नाते ही मनुष्य को मूल्य–सृष्टा कहा गया है। संस्कृति का आधार किसी समाज का मूल्यबोध और उसकी कसौटी उसका आचरण है। यदि संस्कृति मूल्य–दृष्टि और मूल्यानुभूति है तो वह सार्वभौम है और तब उसे देश, भाषा धर्म–सम्प्रदाय आदि की सीमाओं में बाँटकर देखने की एक सीमित उपयोगिता ही हो सकती है। क्योंकि मूल्यगत प्रक्रिया होने के नाते वह सनातन और सार्वभौम है। यदि उसके वाह्य स्वरूपों में कोई भिन्नता दिखायी भी देती है तो वह सन्दर्भगत है।

लेकिन उस सन्दर्भगत रूप को एकमात्र वैध रूप मान लेना प्रकारान्तर से संस्कृति की मूल अवधारणा का ही विरोध करना है। संस्कृति को अक्सर किसी भाषा या धर्म–सम्प्रदाय या देश–प्रदेश के साथ जोड़कर देखा जाता रहा है। ऐसा यदि एक मूलभूत संस्कृति के संदर्भगत और परिवेशगत विविध स्वरूपों को समझाने के लिए किया जाय तो कुछ सीमा तक अध्ययन की दृष्टि से उसकी उपयोगिता हो सकती है और उसके माध्यम से यह देखा जा सकता है कि मानवीय सृजनात्मकता परिवेशगत विविधता में अपने को कैसे विकसित कर पाती है।

अध्ययन का उद्देश्य–

कबीर साहेब के साहित्य का अध्ययन करने वाले चाहे वे इतिहासकार हो या दार्शनिक वे सभी कबीर को आत्मवादी मानते हैं। वे ईश्वर के उस स्वरूप बार–बार आख्यान करते हैं जो सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वातीत मानते है। इस अध्ययन में कबीर साहेब के बहुआयामी व्यक्तित्व का समाज संस्कृति पद प्रभाव अनुमान लगाने का प्रयास किया गया है।

शोध विधि–

प्रस्तुत अध्ययन में कबीर साहेब के विचारों तथा उनका समाज एवं संस्कृति पद पड़ने वाले प्रभाव को समझने के लिए तार्किक एवं क्रमबद्ध विधियों द्वारा प्राचीन व नवीन तथ्यों की जाँच व व्याख्या एवं विश्लेषण किया गया है। इस अध्ययन में आगमनात्मक, सामान्यीकरण, व्याख्या, तार्किक, निगमनात्मक, युक्तिकरण आदि विधियों का प्रयोग किया गया है।

साहित्यावलोकन–

प्रस्तुत अध्ययन में कबीर के सामाजिक, सास्कृतिक विचारों का समाज पर प्रभाव को जानने के लिए पूववर्ती शोधों का अध्ययन के साथ कबीर ग्रन्थावली, आदिग्रंथ एवं पाश्चात्य विद्वानों की रचनाओं, पत्रिकाओं, शोध–पत्रों, पुस्तकों, समाचार पत्रों आदि को आधार मानकर प्रस्तुत किया गया है।

भारतीय संत परम्परा में कबीर का स्थान जानने से पहले संत शब्द का अर्थ बताना चाहता हूँ। छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया है कि ''आरम्भ में एक अद्वितीय 'सत' ही वर्तमान था'' और इसी प्रकार 'ऋगवेद' में एक स्थल पर आया है कि 'क्रान्तदर्शी विप्र लोग उस एक व अद्वितीय 'सत्' का ही वर्णन अनेक प्रकार से किया करते हैं।''[1] संत शब्द का उक्त अर्थ अपभ्रश की पुस्तक 'पाहुड़दोहा' में भी किया गया जान पड़ता है, क्योंकि वहाँ भी यह परमतत्व के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस कारण 'तैत्तिरीय उपनिषद्' में भी सम्भवतः इसी आधार पर कहा गया है कि, ''यदि पुरुष 'ब्रम्ह असत् है' जानता है तो वह स्वयं भी 'असत्' हो जाता है और यदि ऐसा जानता है तो कि 'ब्रम्ह है' तो ब्रह्मवेत्ता लोग उसे भी सत् समझा करते हैं।'' इसके सिवाय कुछ प्रसिद्ध महात्माओं ने भी संत एवं परमात्मा में कोई मौलिक भेद नहीं माना है।[2] उदाहरण के लिए गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है कि– 'संत को अनंत के ही समान जानों'', गरीबदास ने बतलाया है कि ''संत एवं साई दोनों ही एक समान हैं, इस बात में किसी प्रकार के मीन–मेष करने की आवश्यकता नहीं, और इसी प्रकार पलटू साहब ने भी कहा है कि, ''संत तथा राम में कोई भेद नहीं मानना चाहिए।'' अतएव संत शब्द, इस विचार से उस व्यक्ति की और संकेत करता है, जिसने सत् रूपी परमतत्व का अनुभव कर लिया हो और जो, इस प्रकार अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो। जो सत्य स्वरूप सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुका है अथवा अपरोक्ष की उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्य में प्रतिष्ठित हो गया है, वही संत है। इसी प्रकार, प्रशस्त तथा अच्छे कर्मो के लिए भी 'सत्' शब्द प्रयुक्त होता है, यज्ञ, तप व दान में स्थिति अर्थात स्थिर भावना रखने का भी सत् कहते हैं। तथा इसके निमित्त जो काम करना हो, उस कर्म का नाम 'सत्' ही है। कबीर साहब ने अपनी साखी में कहा है कि, ''संतो का लक्षण उनका उनका निर्बेरी, निष्काम, प्रभु का प्रेमी और विषयों से विरक्त होना है।'' और इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने भी, श्रीरामचन्द्र द्वारा संतों की महिमा कहलाते हुए, ''सभी सांसारिक सम्बन्धों के प्रति प्रदर्शित ममता के धागों के बटोर लेने, उन्हें सुदृढ़ रस्सी में बँटकर उसे प्रभों के चरणों में बाँध देने, समदर्शी बने रहने तथा किसी प्रकार की कामना न रखने को'' ही उनके प्रधान लक्षण ठहराए हैं। संत की परिभाषा के अन्तर्गत, इस प्रकार, विषयों के प्रति निरपेक्ष रहते हुए केवल सत्कर्म करना, सद्रूप परमतत्व में एकांतनिष्ठ रहा करना, सभी प्राणियों के

प्रति सहृदयभाव रखते हुए, किसी के प्रति बैरभाव न प्रदर्शित करना तथा जो कुछ भी करना उसे, निःसंग होकर, निष्काम भाव के साथ करना समझे जा सकते हैं। संत–परम्परा के अन्तर्गत कबीर साहब, रविदास, गुरूनानक, दादूदयाल आदि के नाम लिये जा रहे हैं, किन्तु दक्षिण भारत के संतों में ज्ञानदेव का जीवन–काल जहाँ विक्रम की 14वीं शताब्दी के द्वितीय चरण के कुछ ही आगे तक पड़ता है, वहाँ उत्तरी भारत के संत कबीर साहब का जीवन–काल, सम्भवतः उसकी 15वीं शताब्दी के अंतिम तीन चरणों से लेकर 16वीं के प्रथम चरण तक चला जाता है। इस प्रकार पहले क्रम के संत दूसरे वालों के पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं।[3] फिर भी दोनों परम्पराओं के बीच किसी प्रत्यक्ष सम्बन्ध का कुछ भी पता नहीं चलता और न ही यही ज्ञात होता है कि पहले वाले दूसरे को कहाँ तक अपना ऋणी ठहरा सकते हैं। यह बात मानी जाती है कि दक्षिण भारत के संत नामदेव ने पंजाब प्रांत में कुछ दिनों तक भ्रमण कर अपने उपदेश दिये थे और यह भी अनुमान किया जाता है कि उत्तरी भारत के कबीर साहब ने भी दक्षिण की ओर, सम्भवतः महाराष्ट्र प्रान्त तक, अपनी यात्रा की थी। डॉ0 परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि– ''कबीर साहब के लिए पथ प्रदर्शन करने वाले संतो ंके सर्वप्रथम नाम जयदेव का आता है, जो बंग–प्रान्तीय होने के कारण उत्तरी भारत के ही निवासी कहे जा सकते हैं और जो नामदेव तथा ज्ञानदेव से भी पहले राजा लक्ष्मणसेन के यहाँ वर्तमान थे। इन जयदेव का भी नाम कबीर साहब ने नामदेव की भाँति बड़े आदर के साथ लिया है और उन्हे श्रेष्ठ भक्तों में स्थान भी दिया है। जयदेव से नामदेव तक का समय उन संतों का अर्विभाव काल है, जो विक्रम की 9वीं शताब्दी के सरहपा एवं शंकराचार्य से लेकर, 10वीं व 11वीं शताब्दी के गुरू गोरखनाथ के समय तक तैयार किये गये तथा उनसे भी प्राचीन व अर्वाचीन विविधि भक्तों के भक्त–भाव द्वारा सिंचित क्षेत्र में उत्पन्न हुए थे, किन्तु जिनमें संत–मन को अंतिम रूप प्रदान करने की पूरी क्षमता न थी।''। कबीर साहब के उक्त पूर्ववर्ती एवं परवर्ती सभी संतों की परंपरा बहुत लम्बी है, जिसके अन्तर्गत आने वालों की संख्या भी अधिक है। इस परम्परा का आरम्भ यदि विक्रम की 13वीं शताब्दी के जयदेव से मानकर उसे 21वीं शताब्दी के महात्मा गांधी तक का वर्तमान समझा जाए, तो वह दीर्घ काल प्रायः 800–800 वर्षों का होता है, जिसे छोटी–मोटी विशेषताओं के अनुसार मिन्न–मिन्न मागों में विभाजित कर सकते हैं। उनमें सम्मिलित किये जाने वाले संतो ंके जन्म स्थान का क्षेत्र पूर्व की ओर जयदेव के बंग–प्रदेश से लेकर पश्चिम की ओर प्राणनाथ के काठियावाड तक एवं उत्तर की लालदेद के कश्मीर से लेकर दक्षिण की ओर सिंगाजी के मध्य प्रदेश मक विस्तृत समझा जा सकता है, किन्तु दक्षिण भारत के संतों से इन्हें पृथक करने के लिए इनकी परम्परा को उत्तरी भारत की संत–परम्परा ही कहना उचित होगा। हिन्दी भाषा के माध्यम संत मत वाले अपनी रचनायें की। इसके सिवाय जिन–जिन जातियों में उन संतों का जन्म हुआ था, वे ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र से लेकर अहीर, नाई, चमार, मोची, धुनिया व जुलाहे तक की कही जाती हैं, किन्तु संत मत के अनुयायी होने के नाते उन्होंने जातिगत भिन्नता की सदा उपेक्षा की और शुद्ध मानव के रूप में वे सबकों एक समान समझते थे।[4] उन्होंने स्वानुभूति व सदाचरण के उच्च आदर्शों की कसौटी पर ही कसकर पंडित व मूर्ख अथवा राजा व रंक का महत्व परखना चाहा। कबीर–पंथ की एक अन्य प्रसिद्ध शाखा के प्रवर्तक धर्मदास कहे जाते है और उनका मुख्य केन्द्र मध्य प्रदेश में है। इस 'धर्मदासी शाखा' के अनुयायी में संख्या में कबीरचौरा शाखा वालों से कदाचित कहीं अधिक हैं और इसकी उपशाखाएँ भी बहुत–सी बन गई हैं। कहा जाता है कि इसकी स्थापना पहले–पहल बांधवगढ़ स्थान में हुई थी, जो धर्मदास का निवास स्थान था। धर्मदास के विषय में पौराणिक तो अनेक उपलब्ध है, किन्तु उनका ऐतिहासिक जीवन–वृत्त कहीं भी नहीं मिलता।[5] इस शाखा द्वारा मान्य गुरु–परम्परा की तालिका को देखने से पता चलता है कि उन्हें लेकर आज तक 15 गुरु हो चुके हैं। अब यदि कबीरचौरा वाले गुरुओं की भाँति ही इनकी भी गद्दी के समय का माध्यम 25 वर्ष मान लिया जाय तो धर्मदास के गद्दी पर सर्वप्रथम बैठने का काल विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के कही द्वितीय चरण में जाकर पड़ेगा और इस हिसाब से उनका कबीर साहब का गुरुमुख–शिष्य होना किसी प्रकार भी सिद्ध

नहीं हो सकेगा। इसके विपरीत कबीर–पंथ के अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थों में सर्वत्र लिखा मिलता है कि कबीर साहब ने स्वयं दर्शन व उपदेश दिये थे। कबीर साहब ने धर्मदास को कबीर–पंथ की स्थापना का निर्देश करते हुए यह भी बतलाया था कि तुम्हारे पीछे आने वाले उत्तराधिकारी 42 पीढ़ियों तक इसी प्रकार प्रचार करेंगे। इसी प्रकार एक बार फिर 11वें गुरु अर्थात प्रगटनाम के मरने पर उत्तराधिकार का झगड़ा आरम्भ हुआ जो मुकदमेंबाजी तक में परिणत हो गया। अंत में बम्बई हाईकोट द्वारा तय हो गया कि प्रकटनाम की वैद्य पत्नी के गर्भ में उत्पन्न होने के कारण धीरज नाम के अनन्तर उग्रनाम, जो धीरज नाम के मुकाबले असफल हो चुके थे। अंत में इस प्रकार का झगड़ा यहाँ तक चला कि 14वें गुरु अर्थात दयानाम की मृत्यु, अर्थात सं0 1984 के अनन्तर 42 वंशवाले 'वंश' शब्द की भिन्न–भिन्न व्याख्याएँ होने लगी। इस सम्बन्ध में कहा गया कि कबीर साहब ने सत्य की नीति निर्धारित कर उसे अपने वचन–वश द्वारा प्रकट किया गया। अतएव वास्तव में वंश वाले वही समझे जा सकते हैं जो उन बचनों की श्रद्धापूर्वक मानने वाले हैं, उस अविनाशी का बड़ी अभिप्राय था। तदनुसार दयाराम तक चुके हुए 'गुरु–वचन वंश' की श्रेणी के समझे गए जो 'विंद वश' भी थे अर्थात जिन्हें उत्तराधिकार पुत्र भी होने के कारण मिला था, किन्तु आगे वाले इनसे भिन्न गुरुओं को 'नाद–वंश' का समझा जाने लगा। इस मन्तव्य के आधार पर दयानाम के अनन्तर एक उपशाखा इस 'नाद–वंश' व 'नादीय वंश' की भी चल निकली, जो रामपुर जिले (मध्य प्रदेश) में वर्तमान है। ऐसा विचार चतुर्वेदी जी का है। धर्मदास के अनन्तर 5वें गुरु अर्थात प्रमोधनाम एक योग्य व्यक्ति रहे होंगे।[6]

आजकल 'डॉ0 कांतिकुमार सी भट्ट' गुजराज प्रदेश में कबीर साहेब तथा निगुर्णीधारा पर अधिकृत एवं प्रतिष्ठित लेखक है। आपने कबीर साहेब पर कई महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। उनमें आपकी एक प्रसिद्ध पुस्तक है– 'कबीर परम्परा : गुजरात के सन्दर्भ में।' इस पुस्तक में आपने गुजरात में कबीर साहेब का भ्रमण तथा उनके शिष्यों एवं उनसे प्रभावित संतों में विस्तार का खोजपूर्ण विवरण दिया है। जो कुछ अपने वर्णन किया है, उसका संक्षिप्त वर्णन भी यहाँ असम्भव है। केवल यत्किंचित निर्देश किया जा रहा है।

शनैः शनैः धरती पग धरहीं, शनैः शनैः मारग अनुसरहीं।
गाँव गाँव कबीर की जाता, दरशन करत न लौक अचाता।।[7]

सर्वत्र कबीर–कबीर सुन पड़ता था। जीवन जी ने ख्याल से कबीर 'सब संतन को सिर' थे ही। बाबा दीन दरवेश ने कबीर के गुजरात आगमन को विषय में रची अपनी एक कुंडलिया के अन्त में लिखा है–

कहत दीन दरवेश, ''सत'' का शब्द सुनाया।
करुणासिंधु कबीर, बंदी छुड़ावन आया।।[8]

कविवर श्री उमाशकर जोशी ने मध्यकाल में भारत की आत्मा को सतेज रखने वाले तत्त्वज्ञ तथा गूढ़ कवियों में कबीर को 'सर्व शिरोमणि' माना है।

अखा परम्परा के नड़ियाद निवासी संत श्री संतराम जी महाराज ने कबीर वाणी का महत्त्व समझाते हुए कबीर की आधी साखी को करोड़ ग्रन्थों के बराबर कहा था।

आधी साखी कबीर की, कोटि ग्रंथ करी जान।
संतराम जग झूठ है, सुरति शब्द पहिचाना।।[9]

गुजरात के प्रसिद्ध लेखक संत साहित्य के विद्वान डॉ० अम्बाशंकर नागर, श्री कन्हैयालाल मुन्सी, पं० दुर्गाशंकर शास्त्री, डॉ० निपुण पंड्या, श्री किशनसिंह छाबड़ा, श्री वाड़ीलाल शाह, श्रीजनक दवे, श्री मकरंद दवे आदि विद्वानों ने कबीर साहेब का गुजरात के संतों एवं संत साहित्य पर व्यापक प्रभाव माना है। कवि मुकुन्द ने तो 'कबीर चरित्र' में यहाँ तक लिखा है कि कबीर साहेब का प्रभाव गुजरात में इतना बढ़ गया था कि गुरु रामानन्द का सम्प्रदाय छुप जाने लगा

और नाथपंथियों के जर्जरित त्रिशूल–चिमटे को उन्होंने अपने हृदय की भठ्ठी में डालकर जला दिया है और नये सिरे में उनकी प्यास छिपाने वाले 'प्याले' बनवाकर भारत के प्रांत–प्रांत में बांटे हैं।

संत कबीर साहेब का नर्मदा तट पर मंगलेश्वर में कुछ काल निवास हुआ, तत्त्वा–जीवा दो ब्राह्मण बन्धुओं के यहाँ उनका निवास हुआ जो उनके शिष्य बन गये। आज यहीं नर्मदा तट पर विशाल 'कबीर बड़' खड़ा है। ज्ञानी जी के धर्म सम्मेलन में मणिपुर में कबीर साहेब तथा मणिपुर के राजा खड्गसिंह उपस्थित थे। सूरत के एक प्रसिद्ध सन्त निर्वाण जी महाराज ने, जो एक प्रसिद्ध वैष्णव संत थे. कबीर साहेब को अपने यहाँ बुलाकर उनका जोरदार स्वागत किया तथा उनके उपदेश सुने। निर्वाण जी महाराज कबीर साहेब से अत्यन्त प्रभावित हो गये और तभी से निर्वाण साहेब कहलाने लगे। कबीर साहेब के चले जाने के बाद वैष्णव संतों ने निर्वाण साहेब से पूछा– महाराज! हम आप सब वैष्णव हैं. सगुण उपासक तथा मूर्तिपूजक हैं, संत कबीर साहेब निर्गुणी संत हैं।[10] आपने उनको इतना श्रेय कैसे दिया? निर्वाण साहेब ने वैष्णवों को समझाया कि कबीर कोई साधारण संत नहीं हैं। वे सगुण–निर्गुण की परिधि से परे उच्चतम संत है, अवधूत है।

कबीर ने अपने काल के जनजीवन प्रभाव डाला। जैसा कि रविदास और तुलसीदास के मामले में है। कबीर का भी बनारस में रहना बहुत महत्व रखता है। चर्मकार कवि रविदास कबीर से कुछ छोटे थे, तो उदारवादी ब्राह्मण कवि तुलसीदास की कृति रामचरितमानस उत्तर भारत का सबसे महत्वपूर्ण धर्मग्रंथ बन गई। कबीर बनारस के थे, इसका अर्थ यह था कि उनकी अभिव्यति इतनी तेजी और प्रामाणिकता से प्रसारित हो सकती थी, जिसकी कल्पना आज मुश्किल है। आज की तरह तब भी बनारस शिक्षा, व्यापार तथा तीर्थाटन का एक बड़ा केन्द्र था। वहाँ कही गई बात के प्रतिध्वनित होने का स्वतः प्रबन्ध था क्योंकि शहर में छात्रों, व्यापारियों, कलाकारों और तीर्थ यात्रियों का आना–जाना लगा रहता था और ये लोग भारतभर और उसके बाहर तक जाते–आते रहते थ। यह एक आदर्श मंच था।[11]

कबीर को ग्रहण करने के इतिहास के अलावा के इतिहास के अलावा यह जानने का कोई उपाय नहीं है कि कबीर कौन थे। हम देख चुके हैं कि यह इतिहास संयोग से, धुधला नहीं है, लेकिन यह एक मूलभूत समस्या लिए हुए है। अगर हम यह मान भी ले कि बीजक के मूल सूत्र उस वाचिक परम्परा में है जो की पांडुलिपियों से भी पुरानी है, तो हम इस तथ्य का क्या करेंगे कि पश्चिमी तथा पूर्वी परम्पराएँ एक समूह की कविताओं पर आकर नहीं मिलतीं, जिनके कोश में हम वास्तविक कबीर का प्रतिनिधि मान सकते है। यह हमेशा उलझन में डालेगा और जब हम कबीर के जीवन से जुड़ी किवदंतियों पर नजर डालते हैं तो और भी उलझने पैदा होती है। ये किवदंलियाँ 16वीं सदी के अंतिम वर्षों में उभरी। बेशक ऐसे लोग भी हैं जो कहते है कि वे उनकी आवाज की ध्वनि पहचानते हैं। 20वीं सदी के मध्य में हुए महान हजारी प्रसाद द्विवेदी इसके अच्छे उदाहरण हैं। उन्होंने कबीर का भक्ति वाला रूप प्रस्तुत किया, जिसे कई लोगों ने स्वीकार किया। द्विवेदी जी का कहना था कि उनके व्यक्तित्व को ब्राह्मण समाज सुधारक स्वामी रामानन्द की शिक्षा ने स्वरूप प्रदान किया। दूसरे लोग भी गुरु की आवाज की ध्वनि को पहचानते हैं। कबीर के गीतों के प्रसिद्ध गायक नेत्रदीन राजस्थानी कलाकार बिरजापुरी महराज कहते हैं, अगर किसी वाणी का अर्थ गहरा है तो बेशक वह कबीर की ही होगी, अगर ऐसा नहीं है तो यह केवल नकल है। दुर्भाग्य से, इन गीतों के गायन से जो कबीर उभरते हैं, वे द्विवेदी जी के कबीर से काफी अलग हैं। इसलिए जैसा कि एक विद्वान ने कहा है, यह कहना काफी नहीं होगा कि हम कबीर को उनके बोल और उनके सन्दर्भ में ही ले। कोने–से बोल? कौन–से सन्दर्भ?

हम स्वामी रामानन्द से ही शुरू करे, क्योंकि कबीर को उन्हें परिभाषित करने वाली पंश–परम्परा से जोड़ने के लिए ये बहुत महत्वपूर्ण हैं। रामानन्द द्वारा कबीर को दीक्षा देने की हास्यास्पद कहानी उनके सन्तचरित का एक केन्द्रीय तत्व है। कहानी यह है कि रामानन्द गंगा स्नान करने जा रहे थे, तभी कबीर ने ऐसा कुछ किया कि वे कबीर से टकरा

गए। रामानन्द के मुख से फूट पड़ा 'राम'। कबीर ने इसे ही दीक्षा मन्त्र मान लिया। ठाकुर ने क्षितिमोहन सेन द्वारा उपलब्ध कराई गई कविताओं का करते हुए एक कविता में रामानन्द को पाया और इसने उन्हें आश्वस्त कर दिया कि गुरु–शिष्य का सम्बन्ध एक ऐतिहासिक तथ्य है। लेकिन अफसोस यह है कि पुरानी पांडूलिपियों के अध्ययन से कहीं भी इस कविता का पता नहीं चलता, और न ही रामानन्द का नाम किसी और पुरानी कविता में मिलता है, जबकि वह अपेक्षा की जा सकती है कि कबीर के लिए वे अगर इतने महत्वपूर्ण थे, तो उनका उल्लेख किसी कविता में मिलता।

कबीर के गहन जानकार पुरूषोत्तम अग्रवाल तथा डेविड लोरंजेन यद्यपि इससे असहमत हैं, मुझे इस जुड़ाव को सन्तचरित से पुनर्जीवित करने का कोई रास्ता नहीं सूझता। रामानन्द बेहद कम प्रमाण के साथ कई सारी समस्याओं का सामधान कर देते हैं। उस टूटी कड़ी को थमा देते है, जो कबीर के बनारसी 'पूर्वी' नास्तिक पक्ष को उस आस्तिक भक्तिवादी व्यक्तित्व से जोड़ती है जो सुदूर पश्चिम में उभरी पांडुलिपियों में व्यापक रूप से उपस्थित है। वे कबीर को विशिष्ट मठ परम्परा रामानन्दी परम्परा में स्थापित करते हैं और साथ ही मुसलमान परिवार की उनकी पृष्ठभूमि का सूत्र भी थमाते हैं, जैसाकि उसके नाम से स्पष्ट है। और फिर बाद में उन्हें उस तरह की भक्ति के साथ धर्मान्रण से जोड़ते हैं, जिसे कुछ ब्राह्मण तो अपना कहते ही है। यह सब काफी साफ–सुथरी है और कविताओं में बहुत कम प्रतिघ्वनित है। मुझे ती निचली जाति के के उन आलोचकों का साथ देना पड़ेगा, जो यह मानते हैं कि रामानन्द तथा कबीर के बीच सम्पर्क महज एक पवित्रतावादी हस्तक्षेप था– कबीर को अपनी जडों से काटने का तरीका।[12]

नामादास ने लगभग 1600 में अपनी कृति 'भक्तमाल' में कबीर का जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह कहीं ज्यादा विश्वसनीय है। वैसे, वे भी वैष्णववाद के प्रति प्रतिबद्ध हैं और खास कर रामानन्दी भी है। यह सब है कि नाभादास जी सामान्य सूची प्रस्तुत करते हैं। उनमें वे कबीर को रामानन्द के शिष्यों में दर्ज करते हैं, लेकिन जब वे उनके बारे में प्रत्यक्ष तौर पर बात करते हैं तब तमाम पंथगत झुकावों से मुक्त रहते हैं। वे कहते हैं कि कबीर ने जातिगत भेदभावों को परिभाषित करने वाले ब्राह्मणवादी सूत्रों के साथ ही 'युक्तिसंगत' दर्शन की छः धाराओं तथा इस विचार को भी खारिज कर दिया था कि मनुष्य के जीवन को एक निश्चित क्रम का पालन करना ही चाहिए। ये वर्णाश्रम धर्म के मूलाधार थे, जो कि शास्त्रीय ब्राह्मणवादी चिन्तन के केन्द्रीय तत्व बन गए थे। नाभादास के अनुसार, कबीर असहमति के स्वर थे। अगर मक्ति नहीं है तो यह सच्चे धर्म के बिलकुल विपरीत हैं। वे जिस मान्यता के लिए पहचाने जाते है, वह यह है कि संगठित धर्म निरर्थक है। ब्लाइ के अनुसार, जो चीज सबसे महत्वपूर्ण है, वह है 'भक्ति'।[13]

कबीर तो राम या गोविन्द का पान करेंगे। प्रारम्भिक पांडुलिपियों से प्राप्त कविताओं में हम कई बार इस कबीर से रू–ब–रू होते हैं– एक दिग्गज से, जो शारीरिक रूप से सक्रिय हैं, एक हठयोगी हैं, फिर भी जो अपनी पहचान अपने अन्दर में बसे सूक्ष्म गुरु से जोड़ते हैं, सच्चो गुरु रामगोविन्द से। यह नाथ योगी आधार का मक्ति पाठ है– सहजता, स्वतः स्फूर्तता और ईमानदारी का एक रूप, जो कि इसकी प्राथमिक लाक्षाणिकता का काम करने वाले शारीरिक द्रव अभियंत्रण के उत्पाद से ज्यादा सरल है। अनुशासन का यह रूप कम से कम अपने आप में एक लक्ष्य उनके लिए नहीं है।[14]आश्चर्य नहीं कि वे बनारस की गलियों में भरे रहने वाले योगियों के बारे में बोल सकते हैं:

का नांगै का बांध चांम, जौ नहिं चीन्हसि आतमरांम।
नांगे फिरें जोग जो हाई, बन का मिरग मुकुति गया कोई।
मूंड़ मुड़ाए जौ सिध होई, सरगहिं मेंड़ न पहुंची कोई।
बिन्दु राखि जौ तरिअै भाई, तौ खुसरै क्यूं न परम गति पाई।
कहै कबीर सुनौ रै भाई, राम नाम बिन किन सिधि पाई।।[15]

इतिहास वाले कबीर तक पहुँचने के लिए हम प्राचीनतम पांडुलिपियों को खंगालते रहे हैं। हम यही कर सकते हैं, लेकिन हमने यह भी पाया है कि ये पांडुलिपियों अलग–अलग स्वर में बोलती हैं। कोई एक कबीर नहीं है। उनके व्यक्तित्व में जो तमाम निश्चित तत्त्व बताए गए हैं, उनके बावजूद वे प्रस्तुति और ग्रहण की विविध धाराओं में उत्तराते नजर आते रहे हैं।[16]

कबीर को अपनाने वाले समुदायों के रूप कई–कई हैं– दलित–बह्मण, साधु–गृहस्थ, रिक्शाचालक से लेकर सीईओ तक और हिन्दू तथा मुसलमान– दोनों, जिनके बारे में बताया जाता है कि वे उनके पार्थिव शरीर की अन्तिम क्रिया को लेकर झगड़ पड़े थेः ''हम उन्हें दफनायेंगे'', तो ''हम उनका दाह संस्कार करेंगे।'' हिन्दू–मुस्लिम एकता के प्रतीक के तौर पर कबीर, राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देने के भारत सरकार के प्रयासों के लम्बे समय तक एक अव्वल उदाहरण बन गए। उधर इस्लामी पाकिस्तान ने अपने यहाँ उर्दू साहित्य में कबीर को ऊँचा स्थान देकर उन्हें अपनी राष्ट्रीय विरासत का हिस्सा बताने का दावा किया।[17] 2003 में ये दोनों धाराएँ एका कैसेट टेप में आकर मिलीं, जिसमें जाने–माने फिल्मकार तथा गीतकार गुलजार ने 'कबीर बाई आबिदा' (आबिदा की आवाज में कबीर) प्रस्तुत किया। आबिदा पाकिस्तान की एक आला सूफी गायिका है।[18] और जब मानवाधिकार संगवनों ने गुजरात में दंगा पीड़ित मुसलमानों के लिए चन्दा इकट्ठा करने के लिए न्यूयॉर्क के रिवरसाइड चर्च के गुहामय अभ्यारण्य में संगीत कार्यक्रम का आयोजन किया, तो उसमें किसे दोहे गाये गए ?

निष्कर्ष–

अगर कबीर हिन्दू–मुस्लिम सीमारेखा पर एक संकेत चिह्न की तरह खड़े हैं तो वे सामाजिक विषमता, जातिगत भेदभाव और भारतीय समाज की सम्पूर्ण एकता को लेकर जारी विमर्शों के लिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। भीमराव अम्बेडकर कबीर को अपना एक प्रमुख पूर्वज बताते थे। इसके विपरीत, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जोर देकर कहते थे कि कबीर ने भक्ति का पाठ एक प्रगतिशील ब्राह्मण विचारक से आत्मपरिवर्तन के क्षण में सीखा। द्विवेदी जी के लिए वे असहमति का स्वर तो नहीं थे, बल्कि साझी मानवता के उदाहरण थे, जिसे सामाजिक तथा धार्मिक भेदभावों को बेमानी करने वाली भारतीय संस्कृति की एक व्यापक धारा के रूप में पुष्यित–पल्लवित होना चाहिए। नब्बे के दशक में दलित आलोचक धर्मवीर ने दिल्ली के बौद्धिक जगत में हलचल पैदा कर दी थी कि द्विवेदी जी का जो तर्क कबीर को हिन्दू में परिवर्तित करता है और उन्हें एक ब्राह्मण की छत्रछाया में सद्व्यवहारी के रूप प्रस्तुत करता हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची–

[1]. मिश्र, गिरजा शंकर, प्राचीन भारतीय इतिहास–दर्शन तथा इतिहास लेखन, इतिहास स्वरूप एवं सिद्धान्त, संपा0 गोविन्द चन्द पाण्डे, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1973, पृ0 –46

[2]. वही, पृ0 –48, पाद टिप्पणी :5

[3]. निरूक्त, 4.6

[4]. बृहद्देवता, 8.11, 10.192

[5]. शतपथ ब्राह्मण, 13.4.3.12

[6]. छान्दोग्य उपनिषद, 7.1.2

[7]. अर्थशास्त्र, 1.5

[8]. राधाकृष्णन, धर्म और समाज पृ0– 9.11, राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, 1936

[9]. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, ग्रन्थावली, खण्ड–9, पृ0– 199–200, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

[10]. राधाकृष्णन, धर्म तृलनात्मक दृष्टि में, पृ0– 39, राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, 1936

[11]. कबीर ग्रन्थावली, सं0 पारसनाथ तिवारी, 1961 पद संख्या 178

[12]. द मिलेनियम कबीर वाणी मनोहर नयी दिल्ली पृ0 –15

[13]. पूरबी टाइम्स, कबीर विशेषांक, यशपाल, संपूर्णानन्द, अमृतलाल नागर अली सरदार जाफरी, फिराक गोरखपुरी, प्रकाश चन्द गुप्त, ई0 चेली–शेव अदि के लेख, जून, 1966

[14]. चर्यागीतिकोष, आन रेलिजस लिटरेचर आफ इण्डिया, फर्क्युहर, पृ0 –274–75

[15]. सारनाथ, बासुदेव शरण अग्रवाल, पृ0 –2–3, नाथ और संत साहित्य, उपाध्याय, पृ0 –82–83

[16]. काशी का इतिहास, मातीचंद, दो शब्द, पृ0 –3

[17]. शुक्ल, रामचन्द हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ –9

[18]. तिवारी, डॉ0 रामचन्द्र (1992), कबीर मीमांसा, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, पृ –78

Cite this Article

डॉ० राजेश कुमार, "संत कबीर के सामाजिक एवं सांस्कृतिक विचारों का भारतीय समाज पर प्रभाव", International Journal of Multidisciplinary Research in Arts, Science and Technology (IJMRAST)*, ISSN: 2584-0231, Volume 3, Issue 12, pp. 64-71, December 2025.*

Journal URL: *https://ijmrast.com/*

DOI: *https://doi.org/10.61778/ijmrast.v3i12.215*

This work is licensed under a Creative Commons Attribution-NonCommercial 4.0 International License.